

क्या मन अपनी समस्त अंतर्वस्तुओं को, अपने निषेधों, प्रतिरोधों को, अपनी अनुशासनात्मक गतिविधियों को, सुरक्षा के लिए किए जा रहे अपने विविध प्रयत्नों को, जो इसकी सोच को संस्कारित और सीमित बना देते हैं--इन सब को समझकर मन एक एकीकृत प्रक्रिया के रूप में शाश्वत का अन्वेषण करने के लिए मुक्त हो सकता है? क्योंकि उस अन्वेषण के बिना, उस यथार्थ अनुभव के अभाव में हमारी सारी समस्याएं और उनके हल हमें और अधिक तबाही की ओर ले जाएंगे। यह प्रत्यक्ष है, इसे आप अपने दैनिक जीवन में देख सकते हैं। व्यक्तिगत, राजनीतिक, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर, अपनी प्रत्येक गतिविधि से हम अधिकाधिक अनिष्ट उत्पन्न कर रहे हैं, जो अपरिहार्य है, जब तक हमें धर्म की उस स्थिति का अनुभव न हुआ हो जो तभी अनुभवगम्य है, जब मन पूर्णतः मुक्त होता है।

अब क्या यह सुनने के बाद आप, चाहे एक क्षण के लिए ही सही, उस मुक्ति को, उस स्वातंत्र्य को जान सकते हैं? आप इसे सिर्फ इसलिए नहीं जान लेंगे क्योंकि मैं इसका सुझाव दे रहा हूँ; तब तो यह केवल एक विचार, एक मत होगा, जिसमें कोई अर्थवत्ता नहीं होगी। परंतु यदि आपने पर्याप्त गंभीरतापूर्वक इन सब वार्ताओं पर गौर किया है, तो आप स्वयं के विचार की प्रक्रिया के प्रति, इसकी दिशाओं, इसके उद्देश्यों, इसकी प्रेरणाओं के प्रति सजग होना आरंभ कर देते हैं; तथा सजग होते हुए आप एक ऐसी स्थिति में आ ही जाने वाले हैं, जहां मन अब तलाश नहीं कर रहा है, चुन नहीं रहा है, उपलब्ध करने के लिए संघर्षरत नहीं है। स्वयं की समग्र प्रक्रिया का बोध हो जाने पर मन बिना किसी निर्देशन, बिना किसी चाह के, संकल्प की किसी भी क्रिया के बिना, असाधारण रूप से स्थिर हो जाता है। संकल्प तो इच्छा ही है, है कि नहीं? जो आदमी सांसारिक अर्थों में महत्त्वाकांक्षी है उसमें उपलब्धि की, सफल होने की, प्रसिद्ध होने की तीव्र इच्छा होती है, तथा वह अपने अहंकार की पूर्ति के लिए अपने संकल्प का प्रयोग करता है। इसी प्रकार हम सद्गुण विकसित करने के लिए, किसी तथाकथित आध्यात्मिक अवस्था को प्राप्त करने के लिए, संकल्प को प्रयोग में लाते हैं। परंतु मैं जिसकी बात कर रहा हूँ वह स्थिति बिलकुल भिन्न है, वह किसी भी इच्छा से, पलायन की किसी भी क्रिया से, 'यह' या 'वह' हो जाने के किसी भी दबाव से पूर्णतः रहित होती है।

जो मैं कह रहा हूँ, उसकी जांच के लिए आप विवेक का, तर्क का प्रयोग कर रहे हैं, ऐसा ही है न? परंतु तर्क आपको मात्र यहीं तक ला सकता है, और आगे नहीं ले जा सकता। निश्चित ही हमें तर्क का, चीजों को पूरी तरह सोच विचार लेने की सामर्थ्य का प्रयोग करना ही चाहिए, आधे रास्ते में रुक नहीं जाना चाहिए। परंतु जब तर्क अपनी सीमा तक पहुंचा दिया जाता है तथा उसे और आगे नहीं खींच सकते, तब मन तर्क, चतुराई, हिसाब-किताब, आक्रमण व रक्षा का उपकरण नहीं रह जाता है, क्योंकि जहां से हमारे सारे विचार, सारे अंतर्द्वंद्व जन्म लिया करते हैं, उस केंद्र का अंत हो चुका होता है।

तो अब, जबकि आप इन वार्ताओं को सुन चुके हैं, निश्चित ही आप अपनी दिन भर की विविध गतिविधियों के प्रति, क्षण-प्रतिक्षण सजग होने का आरंभ कर रहे हैं; मन स्वयं को अपने सारे विचलनों, प्रतिरोधों, विश्वासों, दौड़ों, महत्त्वाकांक्षाओं, अपने सभी भयों, तृप्ति के समस्त आग्रहों सहित जान रहा है। इस सब के प्रति सजग होते हुए, क्या मन के लिए, चाहे एक पल के लिए ही सही, पूर्णतः निश्चल हो पाना, उस मौन को जान पाना संभव है जिसमें मुक्ति है, और जब मौन का वह स्वातंत्र्य होता है, तो क्या वह मन स्वयं ही शाश्वत नहीं है?

अज्ञात की अनुभूति के लिए मन को स्वयं ही अज्ञात हो जाना होगा। अब तक मन ज्ञात का ही परिणाम रहा है। आप ज्ञात के संचय, अपनी सारी परेशानियों, आडंबरों, महत्त्वाकांक्षाओं, पीड़ाओं, परितोषों और

कुंठाओं के अलावा और क्या हैं? वह सब कुछ ज्ञात ही है, और ज्ञात समय और स्थान के दायरे में ही होता है, तथा जब तक मन समय के, ज्ञात के क्षेत्र में कार्यरत है, वह अज्ञात कभी नहीं हो पाता। वह मात्र उसका अनुभव करता रह सकता है जो इसका जाना हुआ है। देखिए, इसमें कुछ जटिल या रहस्यमय नहीं है। हमारे दैनिक जीवन के जो सुपरिचित तथ्य हैं, उन्हीं का मैं वर्णन कर रहा हूँ। ज्ञात के बोझ में दबा हुआ मन अज्ञात को ढूँढ़ निकालने की खोज में लग जाता है। यह ऐसा कैसे कर सकता है? हम सब ईश्वर की बातें करते हैं, प्रत्येक धर्म में, प्रत्येक गिरजे और मंदिर में इस शब्द का प्रयोग होता है, पर इसका अर्थ-बिंब हमेशा ज्ञात का ही होता है। बहुत, बहुत कम ऐसे होते हैं जो सारे मंदिरों, गिरजों, पुस्तकों को छोड़ देते हैं, जो पार जाते हैं और खोज लेते हैं।

अभी मन समय का, ज्ञात का ही परिणाम है तथा जब ऐसा मन अन्वेषण आरंभ करता है, तो यह मात्र उसी का अन्वेषण कर पाता है, जिसका इसे पहले से ही अनुभव हो चुका है, जो कि ज्ञात है। अज्ञात का अन्वेषण करने के लिए मन को स्वयं को ज्ञात से, अतीत से मुक्त कर लेना होगा, और यह धीमे विश्लेषण द्वारा, कदम-दर-कदम अतीत को खोदते हुए, हर स्वप्न, हर प्रतिक्रिया की व्याख्या करते हुए नहीं होगा बल्कि इसके लिए आपको अभी इसी क्षण, जब आप यहां बैठे हुए हैं, आपको इस सबका सत्य पूरी तरह से देख लेना होगा। जब तक मन समय का, ज्ञात का परिणाम है, वह कभी उस अज्ञात को नहीं खोज सकता जो ईश्वर है, यथार्थ है या जो भी आप उसे कहें। इस बात के सत्य को देख लेना मन को अतीत से मुक्त कर देता है। अतीत से मुक्त हो जाने का झट से यह मतलब न लगा लें कि आपको अपने घर का रास्ता याद नहीं रहेगा। वह तो अम्नीसिया, स्मृति-लोप है। इसे इस तरह की बचकानी सोच के स्तर तक न लाइए। परंतु मन उसी क्षण मुक्त हो जाता है, जब वह देख लेता है कि ज्ञात के बोझ से लदे रह कर वह उस यथार्थ को, अज्ञात की उस असाधारण अवस्था को नहीं पा सकता है। जानकारी अनुभव है, अहं है, 'स्व' है, जो इकट्ठा करता रहा है, जमा करता रहा है; अतएव समस्त ज्ञान को स्थगित होना होगा, समस्त अनुभव को छोड़ना पड़ेगा। और जब उस मुक्ति का मौन होता है, तब क्या मन स्वयं में ही शाश्वत नहीं है? तब इसे कुछ सर्वथा नूतन की अनुभूति हो रही होती है, जो यथार्थ है; पर उस अनुभूति के लिए मन को वही हो जाना होता है। यह मत कहने लीजिए कि मन ही यथार्थ होता है; ऐसा नहीं है। मन को यथार्थ की अनुभूति तभी हो पाती है, जब यह समय से पूर्णतया मुक्त होता है।

अन्वेषण की यह संपूर्ण प्रक्रिया ही धर्म है। निश्चित रूप से, धर्म वह नहीं है, जिसमें आप विश्वास करते हैं; इसका इससे कुछ लेना-देना नहीं है कि आप ईसाई हैं, बौद्ध हैं, मुसलमान हैं अथवा हिंदू हैं; इन बातों का कोई महत्त्व नहीं है, ये तो बाधा हैं, अन्वेषण करने वाले मन को तो इन सब से छुटकारा पाना होगा। नवीन होने के लिए मन को एकाकी होना होगा; शाश्वत सर्जन की विद्यमानता के लिए, उसे ग्रहण करने हेतु मन का स्वयं उसी अवस्था में होना आवश्यक है। किंतु जब तक मन अपने कष्टों व संघर्षों से भरा है, जब तक यह ज्ञान के भार से बोझिल है तथा मनोवैज्ञानिक अवरोधों से जटिल बना है, तब तक मन कभी भी ग्रहण करने, समझने और अन्वेषण करने के लिए मुक्त नहीं हो पाता है।

एक सच्चा धार्मिक व्यक्ति वह नहीं है जिस पर विश्वासों, रूढ़ियों, कर्मकांडों की कठोर परतें चढ़ी हैं। सच्चे धार्मिक व्यक्ति के पास विश्वास नहीं होता है, वह किसी अनुभव का संचय न करते हुए पल-प्रति-पल जी रहा होता है, अतएव वही एकमात्र क्रांतिकारी है। सत्य समय में निरंतरता नहीं है, इसे हर क्षण नया पाना होता है। वह मन जो किसी भी अनुभव को जोड़ता है, पकड़ता है, संजोये रहता है, क्षण-क्षण नूतन का अन्वेषण करते हुए नहीं जी सकता है।

जो वास्तव में गंभीर हैं, जो महज शौकिया तौर पर इस सब से खिलवाड़ में नहीं लगे हैं, जीवन में वे असाधारण महत्त्व रखते हैं, क्योंकि वे ही स्वयं में, अतएव संभवतः अन्यो के लिए भी प्रकाश-पुंज बन सकेंगे। बिना अनुभव के, बिना उस मन के जो पूर्णतः मुक्त है और इसलिए अज्ञात के प्रति अवरोधरहित, खुला है, ईश्वर की बात करने का कुछ भी मूल्य नहीं है, यह ऐसे ही है जैसे बड़ी उमर के लोग खिलौनों से खेल रहे हों; और जब हम खिलौनों से खेलते हैं और उसी को 'धर्म' कहते हैं, तब हम अधिक विभ्रम, अधिकाधिक दुर्दशा निर्मित करते चले जाते हैं।

मात्र उस स्थिति में ही, जब मन विचार करने की समस्त प्रक्रिया को समझ लेता है, जब हम अपने ही विचार में नहीं जकड़े होते, तभी मन के लिए निश्चल होना संभव होता है; केवल तब, शाश्वत का आविर्भाव होता है।

ओहाइ, 5 जुलाई 1953